हिंदी पट्टी का पाठ और पाठ में हिंदी पट्टी

- प्रफुल्ल कोलख्यान

पिछले कुछ समय से साहित्यकारों के बीच पठनीयता के अभाव या पाठकों की संख्या में निरंतर जारी कमी पर गंभीर चिंतन और चर्चा हो रही है। समकालीन हिंदी साहित्य के बारे में एक यह अवधारणा भी बन रही है कि इसके सबसे ज्यादा पाठक बिहार में हैं। इस अवधारणा के बनने में बिहार से प्रकाशित होनेवाली साहित्यिक पत्रिकाओं की भारी तादाद की अपनी भूमिका है। एक तरफ से देखा जाए तो बिहार की छवि तमाम तरह की अव्यवस्थाओं एवं पिछड़ेपन की बन गई है। बल्कि कहना चाहिए कि बिहार अपनी छवियों में अव्यवस्थाओं एवं पिछड़ेपन का प्रतीक और पर्याय बनाकर रख दिया गया है। साहित्य के सबसे अधिक पाठक संख्यावाली छवि और अव्यवस्थाओं एवं पिछड़ेपनवाली छवि को मिलाकर देखने पर कुछ दिलचस्प निष्कर्ष और सवाल हासिल हो सकते हैं। क्या हिंदी पाठकों की बढ़ी हुई संख्या अंग्रेजी के वर्चस्व की कमी को सूचित करती है ? क्या अंग्रेजी के वर्चस्व की कमी पिछड़ेपन का कोई कारण हो सकता है ? नामांकन एवं नौकरियों के लिए आयोजित विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाओं के परिणाम कुछ अलग तरह के संकेत भी देते हैं। बिहार की पिछड़ेपनवाली छवि को बनाये रखने के लिए इस तथ्य को कुछ अधिक बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया जाता है कि विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाओं के परिणाम में बेहतर करनेवाले छात्र अपने या अपने माता-पिता के जन्म के आधार पर भले ही बिहार के साबित किये जा सकते हों लेकिन वे वास्तव में बिहार से बाहर के लोग हैं। एक बात मुझे स्वीकार कर लेनी चाहिए कि कम-से-कम यहाँ जब मैं 'हिंदी पट्टी' कहता हूँ तो उसका आशय बिहार से सीमित न होकर भी बिहार केंद्रित जरूर है।

कभी सार्त्र ने व्यथित होकर अपने पाठक के होने के बावजूद पब्लिक के न होने की बात कही थी। पाठक के पब्लिक में बदलने की बात तो दूर आज हिन्दी लेखक के पास अपना कोई पाठक समूह ही नहीं है। सच पूछिये तो हिंदी में तुलसी और कुछ हद तक कबीर के अलावे किसी और लेखक के पास पाठक और पब्लिक नहीं हैं। प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, महादेवी वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, हरिशंकर परसाई, यशपाल, सुभद्रा कुमारी चौहान, फणीश्वरनाथ रेणु, रामधारी सिंह दिनकर, रामविलास शर्मा, अज्ञेय, नागार्जुन, रांगेय राघव, नामवर सिंह, श्रीलाल शुक्ल, कमलेश्वर जैसे गिने-चुने लेखकों के कुछ पाठक तो मिल सकते हैं लेकिन इनके पब्लिक का मिलना संभव नहीं है। पाठक और पबिलिक में क्या अंतर है ? पाठक और पब्लिक के अंतर पर विस्तार से चर्चा करने की गुंजाइश यहाँ नहीं है, फिर भी मूल अंतर का संकेत करना प्रासंगिक ही नहीं आश्यक भी है। पाठक पाठ के सरोकरों से मुक्त हो जाता है, पाठ अपने पाठक के मूल्यबोध का हिस्सा नहीं बनता है। पब्लिक पाठ के बाद पाठ के सरोकरों से संयुक्त हो जाता है और पाठ अपने पाठक के मूल्यबोध का हिस्सा बन जाता है। लेखक यदि पाठक की बाह्य समस्या और आंतरिक संवेग की चिंता किये बिना सिर्फ अपने आवेग में सृजन करता चला जायेगा तो उसे पाठक भी मिलना मुश्किल हो जाता है, पबब्लिक की कौन कहे। पाठक के जीवन संघर्ष की चिंता, सामाजिक संघर्ष की चिंता, विचार संघर्ष, भावप्रवाह की चिंता के लिए साहित्य में व्यापक अवकाश नहीं होगा या कह लें कि साहित्य का सारा स्पेस लेखक के जीवन संघर्ष, विचार संघर्ष और भाव प्रवाह को ही समर्पित होकर जायेगा तो उसमें पाठकों की क्या दिलचस्पी हो सकती है ! युग के मुख्य अंतर्विरोधों की सामाजिकता और पाठक के अपने जीवन के मुख्य अंतर्विरोधों की वैयक्तिकता के बीच सृजनात्मक संवाद की संभावना से रहित पाठ में पाठक अपने को कहाँ खोजे! जीवन की जटिलता ऐसी कि प्रत्येक क्षण हमारे चित्त पर दखल कायम करने के लिए कोई-न-कोई तत्पर रहता है — मनोविज्ञान की शब्दवली में कहें तो दिमाग दखल के लिए इंपोज, सुपरइंपोज की प्रक्रिया चलती रहती है। खुद से खुद की मुलाकात मुश्किलों में घिर जाती है। महत्त्वपूर्ण रचना पाठक को अपनेआप से मिलवाती है। अपने

पाठक की आत्मपहचान को साफ करती है। आत्म-परिवर्त्तन की प्रेरणा बनती है। जो पाठ प्रेरणा नहीं बनता है वह पाठक के मूल्यबोध का हिस्सा नहीं बन सकता है। अनायास लेखन या लेखक केंद्रित लेखन से उपलब्ध पाठ का प्रेरणा बनना संभव नहीं होता है। यथार्थ के प्रति रचनात्मक रुख लेखक की सबसे बड़ी चुनौती होती है। भीष्म साहनी के अनुभव को याद करें तो 'वास्तविकता' को 'गल्प' में इस तरह से बदलने की चुनौती होती है कि पाठक उस गल्प को वास्तविकता में बदलने की गुंजाइश पा सके। अक्सर साहित्य अपने पाठक को सीधे 'वास्तविकता' से भिड़ा देता है या फिर उसे इस तरह से गल्प में बदल देता है कि पाठक के लिए उस गल्प को अपनी वास्तविकता में बदलना दुष्कर हो जाता है। पाठ से गुजरते हुए पाठक रचना को फिर से सिरजता चलता है। मनुष्य की वृत्ति रचने में ही रमती है। जिस पाठ में फिर से रचने का अवकाश नहीं होता है उस पाठ में सृजन का सहचर बन पाने का कोई अवसर पाठक को नहीं मिलता है। अखबारों में छपनेवाली शब्द-पहेलियों की ग्राह्यता का आधार सृजन का सहचर बनने की स्वाभाविक पाठकीय प्रवृत्ति से ही बनता है। पढ़ना रचने का आनंद न दे तो वह अरुचिकर काम बनकर रह जाता है। जीवन की जरूरतों को पूरा करने के लिए आदमी को ढेर सारे रुचि-विरुद्ध कार्य करने ही पड़ते हैं, वह एक और रूचि- विरुद्ध कार्य भला क्यों करने लगे! जो पाठ वैयक्तिकता में सामाजिकता के लिए और सामाजिकता में वैयक्तिकता के लिए समुचित स्थान बनाने की सायासता सहज मुक्त होता है वह पाठक के मूल्यबोध का हिस्सा नहीं बन सकता है। हिंदी का नैसर्गिक पाठक आज बहुत दुखी है। नागार्जुन कहते थे कि पाठकवर्ग ही हमारे अन्नदाता हैं, वे कल नहीं तो परसों अवश्य सुखी होंगे फिर अपने साहित्यकार की सुधि वे जरूर लेंगे। पाठक को सुखी बनाने में साहित्य की भूमिका की पर ध्यान देना जरूरी है। पाठकों की चिंता करते हुए गंभीरता से यह सोचने की जरूरत है कि हमारा साहित्य अपने पाठकों को सुखी बनाने में कितना कारगर है। सबसे दुखदायी होता है गुलाम होना, दिमागी रूप से गुलाम होना। अच्छा साहित्य साहित्य पाठक को दिमाग-दखल से बचाता है, दिमागी गुलामी से बाहर निकलने में मदद करता है, उचित लगनेवाले रास्ते को पकड़ने में मदद करता है। रवींद्रनाथ के शब्दों को याद करें तो माथा को ऊँचा और चित्त को भयशून्य बनाता है। लेकिन जब साहित्य भी जाने-अनजाने दिमाग दखल के ही काम में लग जाये तो पाठक का उससे कन्नी काटना समझ में आना चाहिए। लेखक के मन में यश की आकांक्षा होना गलत नहीं है। लेकिन पाठ के प्रसार की सीमा के बहुत बाहर तक लेखक के यश का प्रसार शुभ नहीं होता है। लेखक का बर्द्धित (इनफ्लेटेड) यश अपने पाठक की चित्तवृत्ति को आक्रांत करता है, उसकी चित्तवृत्ति का, उसके जीवनानुभव का सहज स्वाभाविक हिस्सा नहीं बन पाता है। पाठक के मानस का अतिक्रमण करनेवाले पाठ का पाठक के मानस से अंतर्मिलन संभव नहीं होता है। पाठक की चर्चा करते हुए बात सिर्फ लेखक की करना पर्याप्त नहीं है।

लेखक और पाठक के बीच की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी प्रकाशक भी है। प्रकाशन के बिना लेखन स्वीकृत नहीं हो पाता है। प्रकाशन का अर्थ सिर्फ छापना नहीं होता है। प्रकाशन का अर्थ होता है, किसी कृति को सामाजिक जीवन की सार्वजनिकता से जोड़ना। यह मुश्किल काम है। निष्ठा के अभाव में यह मुश्किल और बढ़ जाती है। प्रकाशित लेखन के मूल्यबोध से पाठकों को जोड़ने के पहले प्रकाशक का खुद उस मूल्यबोध से जुड़ना आवश्यक है। पाठ के मूल्यबोध से जुड़ने के बाद ही प्रकाशक में पाठक के मूल्यबोध से उसे जोड़ने की इच्छा जग सकती है। अन्यथा पाठक उसके लिए सिर्फ खरीददार बनकर रह जाता है। प्रकाशक का सारा ध्यान अपने व्यावसायिक लाभ पर केंद्रित हो जाता है। मुनाफा बुरी चीज नहीं है। बुरी बात है मुनाफा कमाने के लिए व्यापक हित की बलि चढ़ाने में झिझक का न होना। करोड़ो संभावित पाठक से विमुख होकर दहाइयों में खरीद करनेवाली सरकारी खरीद पर अतिनिर्भरशीलता व्यापक हित की बलि चढ़ाने का एक नमूना है, इससे अंततः व्यावसायिक मुनाफा भी दुष्प्रभावित ही होता है। समाजिक जीवन की सार्वजनिकता से किसी कृति को जोड़ने का एक मात्र उपाय है प्रकाशित पुस्तक के वितरण की व्यापकता के क्षेत्र को अधिक-से-अधिक फैलाया जाना। प्रकाशन का बड़ा हिस्सा इस वितरण-व्यवस्था पर निर्भर करता है। वितरण ठीक से नहीं हो पाने के कारण बिक्री पर भी असर पड़ता है। बिक्री ठीक से न हो

तो बहुत सारी समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। प्रकाशक को ठीक-ठीक या अपेक्षित लाभ नहीं हो पाता है। पाठकों को बांछित किताब नहीं मिल पाती है। अधिकतर लेखकों को कोई रॉयल्टी नहीं मलती है। रॉयल्टी का नहीं मिलना स्वाभाविक रूप से लेखन के प्रति समर्पण, श्रम, निष्ठा जैसे सकरात्मक पहलू को क्षतिग्रस्त करता है। लेखक, पाठक और प्रकाशक बीच के संबंध में संतुलन कायम करनेवाला पारस्परिक अनुपूरकता का सिद्धांत बुरी तरह क्षतिग्रस्त होता है — लेखक इस मुगालते में फँस रहता है कि प्रकाशक उसके बल पर जिंदा है और प्रकाशक इस मुगालते में कि वही लेखक बनाता है। साहित्य के अलावे ज्ञान-विज्ञान, पाठ्य पुस्तकों, शोध प्रबंधों एवं जीवन के नित्य व्यवहार में आनेवाली पुस्तकों के लेखकों और प्रकाशकों के बीच भी लगभग इसी तरह की समस्याएँ देखने में आती है।

जिस तरह एक ही लेखक से समाज का काम नहीं चल सकता है, उसी प्रकार एक ही प्रकाशक से लेखकों और समाज का काम नहीं चल सकता है। जब अनेक होते हैं तो उनमें स्वाभाविक तौर पर श्रेष्ठता का क्रम भी तैयार होता है। श्रेष्ठता में वर्चस्व की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। जो वर्चस्वशाली होते हैं वे दूसरों को हीन समझते हैं। जहाँ तक हिंदी पुस्तकों के प्रकाशकों की बात है उनमें श्रेष्ठता बोध कुछ अधिक ही सक्रिय होता है। बड़े प्रकाशक अर्थात जिनके पास बड़ी पूँजी है, अधिक टाइटिल है, बाजार के बड़े हिस्से पर कब्जा है वे छोटे प्रकाशकों की अच्छी किताबों को भी नहीं सराह पाते हैं। हिंदी किताबों के प्रकाशन के इतिहास पर गौर किया जाये तो बहुत सारी बातें साफ हो सकती हैं। एक समय जिस किताब को प्रकिशत करने से बड़े प्रकाशक ने मना कर दिया था, उनमें से कुछ किताबें आगे चलकर बहुत महत्त्वपूर्ण साबित हुईं। जब उनकी महत्त्वपूर्णता साबित हो गई तो अगले संस्करणों के प्रकाशन का जिम्मा उसी बड़े प्रकाशक ने आराम से उठा लिया। कहने में कोई झिझक नहीं है कि महत्त्वपूर्णता का यह संदर्भ सिर्फ और सिर्फ अर्थ लाभ की संभावना से तय होता है, यह सराहनीय स्थिति नहीं है। छोटे प्रकाशकों के माध्यम से अपनी किताब के आने के बाद ख्याति प्राप्त लेखक पहला अवसर मिलते ही अपनी अगली पुस्तक के प्रकाशन का दायित्व बड़े प्रकाशक को सौंपकर निश्चिंत हो जाता है। प्रकाशन दरअसल लेखन का ही विस्तार है, यह कैसे हो सकता है कि लेखन में एक तरह का सामाजिक मिशन सक्रिय हो और उसके प्रकाशन, अर्थात विस्तार में, मिशन का कोई तत्त्व हो ही नहीं। लेखन के सामाजिक मिशन का विनियोग प्रकाशन में तो नहीं हो पाया जबकि लेखकों के मन में प्रकाशन की मिशन विहीनता घर कर गई है। पहले लेखक अपना प्रकाशक भी खुद होते थे। स्थिति बदली और लेखक के लिए अपना प्रकाशक बने रहना संभव नहीं रह गया। आगे चलकर, ऐसे पढ़े-लखे लोगों ने, जिनके मन में पढ़ने-लिखने के प्रति सहज अनुराग था, निष्ठा थी यह दायित्व और जोखिम उठाना शुरू किया। उनके मन में व्यावसायिकता के साथ-साथ एक प्रकार का मिशनबोध भी था। लेकिन धीरे-धीरे यह मिशनबोध — लेखक और प्रकाशक दोनों में — कमजोर और बहुत कमजोर होता चला गया। इस दो तरफा मिशन विहीनता के कारण संबंधों में उलझाव आते हैं, प्रकाशकों के आपसी संबंधों और प्रकाशकों लेखकों के संबंध में यह उलझाव देखा जा सकता है।

पाठक सिर्फ साहित्य के नहीं होते लेकिन पाठकों की चिंता सिर्फ साहित्य को होती है। रसायन, राजनीति शास्त्र, भूगोल या ऐसे ही किसी अन्य विषयों से संबंधित लेखकों को पाठक की चिंता नहीं सताती है! साहित्य के संदर्भ में भाषा का सवाल जितनी तत्परता से उठता है, अन्य संदर्भों में नहीं उठता है। दुखद सचाई है कि विभिन्न विषयों की प्रामाणिक और मौलिक किताबें जिस भाषा में उपलब्ध नहीं होती है, उस भाषा का साहित्य भी उपने पाठकों को प्रामाणिकता और मौलिकता का आश्वासन नहीं दे पाता है। साहित्य के पाठकों के अभाव की चिंता में विभिन्न विषयों की प्रामाणिक और मौलिक किताबों के अभाव का समावेश अनिवार्य रूप से होना चाहिए। जहाँ तक हिंदी साहित्य के पाठकों की बात है — हिंदी साहित्य में हिंदी पट्टी के प्रामाणिक पाठ का अभाव हिंदी साहित्य के प्रामाणिक पाठक के अभाव का एक मात्र कारण तो नहीं है, लेकिन एक बड़ा कारण जरूर है।